



## अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा साहित्य में आत्मसंघर्ष का स्वरूप

रविशंकर पाठक

शोधार्थी (हिन्दी) – अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा, मध्य प्रदेश, भारत।

### सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा साहित्य में आत्मसंघर्ष का स्वरूप पर आधारित है। भारत देश में अलग-अलग धर्म, अलग जाति निवास करती है। प्रत्येक धर्म समाज की संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। धर्म सामाजिक नियंत्रण की प्रमुख संस्था है तथा वह जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा करता है। मनुष्य की असामाजिक वृत्तियों पर नियंत्रण रखकर मानव मर्यादा की स्थापना करता है। धर्म के नियमों को आचरण में ढालकर ही मनुष्य जीवन सफल होता है। डॉ. राधाकृष्णन का मत है कि, “धर्म परम मूल्यों में विश्वास और उन मूल्यों को उपलब्ध करने के लिए जीवन की पद्धति का प्रतीक होता है।”<sup>1</sup> यह नैतिक व्यवस्था को जन्म देता है जिसके परिणाम स्वरूप नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का जन्म होता है। इसलिए यह मानवता को विकास की ओर गतिशील करता है। धर्म अंधविश्वास नहीं है, धर्म अलौकिकता में नहीं है, वह जीवन का अत्यंत स्वाभाविक तत्व है।

हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई तो सबने मिलकर लड़ी। लेकिन अंग्रेजों ने अपने निहित स्वार्थ के लिए भारतीय मन को हिन्दू और मुसलमान मन को बाँटा। फलस्वरूप देश का विभाजन हुआ। भारत और पाकिस्तान दो राष्ट्रों का निर्माण हुआ। इसका परिणाम आज हम दंगों के रूप में देखते हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिक समस्या का हल विभाजन गलत साबित हुआ। स्वतंत्रता के बाद सबसे अधिक काला धब्बा, उन साम्प्रदायिक दंगों को है। जो देश के कोने-कोने में भड़कते रहते हैं। एक तरफ पाकिस्तान का उदय तो दूसरी ओर हिन्दू साम्प्रदायिकता से तात्पर्य धार्मिक भावना से प्रेरित होकर उन व्यवहारों को कराने से है, जिन्हें दूसरे धर्म के लोग पसंद नहीं करते। हिन्दू प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ प्रारम्भ से लेकर आज तक संघर्ष करती आयी हैं। शहरों में यह काम बहुत आसान होता है। क्योंकि वहाँ एकता जैसी कोई बात नहीं है। लेकिन देहातों में जहाँ मुस्लिम मजारों पर हिन्दू घरों को बुलाया जाता है और जहाँ मोहर्रम के अवसर पर हिन्दू मनौतियाँ माँगते हैं। जिस गाँव का मुसलमान दशहरे में चंदा देता है। मंदिर के लिए जगह बक्षिस के रूप में दी जाती है वहाँ अलगाव फैलाना असंभव है।

**मूल शब्द :** अब्दुल बिस्मिल्लाह, कथा साहित्य, राजनीति, आर्थिक एवं सामाजिक संघर्ष।

### प्रस्तावना

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के विकास की चेतना नगरोन्मुखी रही है। कांग्रेस ने स्वतंत्रतापूर्व भारतीय जन-समुदाय का स्वतंत्रता के संघर्ष में आह्वान करते हुए गाँवों की आर्थिक और सामाजिक दशा को सुधारने का वादा किया था। उन्होंने लोगों को यह विश्वास दिलाया था कि स्वतंत्र भारत के गाँव अशिक्षा और दरिद्रता के पाश से मुक्त आत्मनिर्भर इकाई होंगे। महात्मा गांधी ने स्वातंत्र्योत्तर गाँवों की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कहा था, “मेरे आदर्श के गाँवों में बुद्धिमान मनुष्य होंगे। वे धूल और अन्धकार में जानवरों के समान नहीं रहेंगे। पुरुष और नारी स्वतंत्र होंगे तथा संसार के किसी भी व्यक्ति के सम्मुख खड़े हो सकेंगे। प्लेग, हैजा और चेचक से वे मुक्त होंगे। वहाँ न तो कोई अकर्मण्य होगा और न कोई विलासी होगा।”<sup>2</sup> पर भारत के शासन-सूत्र का संचालन जिन हाथों में था, स्वतंत्रता के बाद भारत के भाग्य का जो विधाता बना उसको देश की दरिद्रता और दयनीयता की जड़ कहीं और दिखाई पड़ रही थी। उसका विश्वास था कि भारत की चिर प्रतीक्षित प्रतिमा गाँवों के धूल और अन्धकारपूर्ण वातावरण से नहीं गढ़ी जा सकती।

औद्योगीकरण और संचार के समुचित साधनों से विकसित नगर ही उसके स्वप्न थे। उसकी कल्पना में लन्दन और पेरिस की भव्य मूर्ति थी। वह भारत में एडिनबर्ग और शेफील्ड बसाना चाहता था। नागर-संस्कृति में उसकी आस्था थी और गाँव का अर्थ उसके अनुसार बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े हुए लोगों की बस्ती था। भारत की विकास-योजनाओं का स्वरूप चिंतन करते हुए

पंडित नेहरू ने कहा था, “मुझे यह बात नहीं समझ आती है कि गाँव को सत्य और अहिंसा से पूर्ण क्यों माना जाय। सामान्यतः कोई भी गाँव बौद्धिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है। पिछड़े हुए वातावरण से विकास की सम्भावना कम है। संकीर्ण विचारवाले लोगों के अधिक हिंसक और मिथ्याचरण होने की सम्भावना है।”<sup>3</sup> पण्डित नेहरू भारत की समस्याओं का समाधान संतोष और सम्यक् बँटवारे में नहीं, साधनों के उपभोग द्वारा संपत्ति के उत्पादन को मानते थे। भारत की विदेशनीति के संचालक का यह सुनिश्चित मत था कि भारत की प्रतिष्ठा और विदेशों में उसकी साख बनाने में गाँव समर्थ नहीं होंगे। महात्मा गांधी ने नगरों को गाँवों के लिए एक सतत वर्तमान खतरा कहा था। गाँवों की उन्मुक्ता और उसके निवासियों के लिए घातक बताया था पर भारत-सरकार की उद्योग और अर्थ-नीति नये नगरों का निर्माण और पुराने नगरों के विस्तार का कारण बन रही थी।

नगरों और महानगरों की समस्या से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध जनसंख्या का विस्फोट है। भारत की जनसंख्या जो 1951-52 में साढ़े छत्तीस करोड़ थी आज प्रायः साठ करोड़ है। जनसंख्या की वृद्धि एक ऐसी समस्या है जिससे अन्य कितनी ही समस्याएँ फूटती हैं। वर्ल्ड बैंक के अध्यक्ष श्री मैकनामारा के अनुसार – “यह निश्चित है कि जनसंख्या के विस्फोट का परिणाम होता है, कष्टों का विस्फोट, हिंसा का विस्फोट और पशुता का विस्फोट।”<sup>4</sup> इस बढ़ती हुई आबादी के फलस्वरूप देश की आर्थिक व्यवस्था पर असामान्य बोझ पड़ा। औद्योगीकरण के फलस्वरूप और जीविका की खोज में जन-समूह गाँवों से नगरों की ओर अबाध रूप से चला आ

रहा है और नगर मनुष्यों से भरकर उमड़ रहे हैं। शिक्षा के प्रसार और अधिक सुविधापूर्ण जीवन की खोज में भी गाँव के नौजवान शहर की ओर आकर्षित हो रहे हैं। खेती के अनिश्चित परिणाम, बाढ़ और सूखे की विकट लीला, बंजर भूमि की वृद्धि, मरुभूमि का प्रसार आदि के कारण भी गाँवों की ओर लौटने के बदले नगरों की ओर चलो की प्रवृत्ति प्रबल हो उठी है। इन सारी प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में नगरों की आबादी में स्तम्भित कर देने वाली वृद्धि हुई है। सन् 1961 में जहाँ नगर में रहने वालों की संख्या लगभग आठ करोड़ थी वह सन् 1975 में साढ़े तेरह करोड़ के पास पहुँच चुकी है।

नगरों में जिस तीव्र गति से जनसंख्या का विस्तार हुआ है। हमारी सरकार और अन्य संस्थाएँ जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों के उत्पादन और उपलब्धि में उसी अनुपात से वृद्धि नहीं कर सकी है। नगरों के आस-पास सीमित भूमि की समस्या तो है ही, उचित आवास, भोजन, शिक्षा, व्यवसाय, परिवहन, स्वच्छ वातावरण और सुरक्षा का अभाव भी कम नहीं है। नगरों में ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ खड़ी हो गई हैं पर झोपड़पट्टों की भी कमी नहीं है। आलीशान भवनों में आधुनिक सभ्यता और विज्ञान की उपलब्धियों से अत्यन्त आकर्षक जीवन के साथ ही गन्दी बस्तियों में वातावरण की सड़ांध और अभाव की मार से दिन-दिन दुर्बल होता जीवन भी बढ़ता ही गया है। नगरों में जीवन के साधन हैं पर उनका मूल्य सामान्य जन की पहुँच के भीतर नहीं है। आवास के उपयुक्त भूमि का छोटा टुकड़ा भी जनसाधारण की क्रय शक्ति के परे है। महानगरों के मकान मकान न रहकर दरबे हो गये हैं। उनमें अत्यधिक भीड़ है। पानी और शौच के लिए लम्बी कतारें लगती हैं। एक-एक घर में अनेक परिवार रहते हैं। सड़क की फुटपाथों पर जीवन व्यतीत हो जाना स्वीकृत विधान बन गया है। घर दरबे बन गये हैं और इनमें रहने वाले मोड़, मानसिक तनाव और कुण्ठा का जीवन ढोने के लिए बाध्य हैं।

नगर अपने महानगरीय परिवेश में मनुष्य और उसके भविष्य के लिए आतंक का कारण भी बन गये हैं। आदमी की जानकी कीमत घट गई है। अधिक-से-अधिक अर्जन करने की प्रवृत्ति मनुष्य को मशीन समझने लगी है और औद्योगीकरण ने ऐसी औद्योगिक बस्तियाँ विकसित कर दी हैं जहाँ से लाखों मन कार्बन प्रतिदिन प्राणवायु को दूषित कर रहा है। कलकत्ता विकास प्राधिकरण की ओर से होने वाले एक सर्वेक्षण से जो तथ्य सामने आये हैं वे आतंकित करने वाले हैं। कलकत्ते के वायुमण्डल में प्रतिदिन ढाई सौ टन धूल आदि के कण और पचहत्तर टन सल्फर डायोक्साइड तथा नाइट्रोजन का मिश्रण होता है। कलकत्ता और बम्बई के आसपास की नदियों और समुद्र में प्रतिदिन बावन करोड़ गैलन दूषित जल का प्रवेश होता है। गंगा और यमुना का जल भी विषाक्त हो रहा है।

जीविका की खोज में और आधुनिक सुविधाओं के आकर्षण से देश के भिन्न-भिन्न समुदायों और विचारधाराओं के लोगों का नगरों में प्रवेश हुआ है। फलतः नगर-जीवन में एकात्मबोध का स्वाभाविक अभाव है। भिन्न-भिन्न समुदायों के अलग-अलग समाज और संगठन, स्वार्थ और हित हैं। ये अलग-अलग संगठन भारत की भिन्नता को दूर कम उजागर अधिक करते हैं। परिचित होते हुए भी लोग अपरिचित जैसे लगते हैं। सब अपनी-अपनी परिधियों में विचरण कर रहे हैं। प्रतिद्वन्द्विता बढ़ती जा रही है।<sup>5</sup>

स्वातंत्र्योत्तर काव्य में इन नगरों के जीवन का सशक्त और विपुल वर्णन हुआ है। स्वतंत्रता के बाद द्रुत गति से विकसित होने वाले नगर-जीवन ने कवि की चेतना को प्रबल रूप से प्रभावित किया है।

अब्दुल बिसमिल्लाह को इस जीवन का अपना अनुभव है। उन्होंने नगर की भीड़, आतंक, अभाव तथा वैषम्य को स्वयं झेला है। फलतः उनके चित्रण में स्वानुभूति की गहराई भी है और उसका तीखापन भी।

### राजनीतिक संघर्ष

भारतीय संघटनात्मक समाज की इकाई के रूप में ग्रामों का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। डॉ. बेनीप्रसाद के अनुसार –“समाज की इकाई होने के कारण राजनीतिक संगठन की इकाई भी ग्राम था। यह अपने में पूरे संसार सदृश ही था।”<sup>6</sup> विष्णुस्मृति और मनुस्मृति में भी ग्राम को राज्य की सबसे छोटी राजनीतिक इकाई माना गया है। मनु का स्पष्ट निर्देश है कि जो ग्रामीण समाज की मान्यताओं का उल्लंघन करे उसे दंड देना राजा का कर्तव्य है। महाभारत में ग्राम-संघों का उल्लेख है और बाल्मीकि ने भी ‘जनपद’ की चर्चा की है। भारतीय ग्रामों की एक स्पष्ट राजनैतिक और सामाजिक भूमिका रही है।

भारत के ये गाँव केवल प्रशासनिक कड़ी ही नहीं रहे हैं, बल्कि संस्कृति के विकास को शान्त पृष्ठभूमि और संकट उपस्थित होने पर उसके संरक्षक भी रहे हैं। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार गाँव, राजनीतिक तूफानों के आने पर राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण और आत्मसंगोपन के लिए उपयुक्त स्थल थे। सर जार्ज वुड के अनुसार गाँवों ने राजनीतिक क्रान्तियों से अप्रभावित रहकर जाति की संस्कृति के संरक्षण में सहायता पहुँचाई है।<sup>7</sup>

सर चार्ल्स मेटकाफ ने सन् 1832 में हाउस आफ कामन्स को दिये गये एक प्रतिवेदन में इन भारतीय ग्रामों का परिचय देते हुए लिखा था – “ग्रामीण समाज छोटे-छोटे गणराज्यों के सदृश हैं, अपनी आवश्यकता की प्रायः सभी वस्तुओं के उत्पादन एवं विदेशी (बाहरी) सम्बन्धों से प्रायः स्वतंत्र। राजवंशों के बाद राजवंशों का पतन होता रहा, क्रान्तियों के बाद क्रान्तियाँ होती रहीं, किन्तु ग्रामीण समाज वैसा ही बना रहा। मेरी धारणा है कि अपने में छोटे-से पृथक गणराज्य के सदृश ग्रामीण समाज की पंचायत ने भारत में होने वाले समस्त परिवर्तनों एवं क्रान्तियों के मध्य भी भारतीय जनता के परिरक्षण में अन्य किसी भी तत्व की तुलना में अधिक योगदान दिया।”<sup>8</sup>

परन्तु स्वातंत्र्योत्तर युग के ग्राम वे ग्राम नहीं हैं जो समर्थ और सुखी थे। मौर्य सम्राटों के शासन-काल से प्रारम्भ होने वाली सत्ता और सम्पत्ति के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति ने इन ग्रामों को धीरे-धीरे पर-मुखापेक्षी और दुर्बल बना दिया था। जमींदारी, महाजनी और नौकरशाही की लूट ने गाँवों की सम्पत्ति अपनी तिजोरियों में भर ली थी और ग्रामीण जीवन लाचारी का पर्याय बन चुका था।

भारतीय समाज में अवसरवादियों की भीड़ रही है। एक-एक आदमी के पास कई-कई मुखौटे हैं जिनका उपयोग वह अपने स्वार्थ के लिए करता है। राजनीति में इलबदल की विकृति मान्य नीति बन गई है। इसे सहा ही नहीं जा रहा है, प्रोत्साहन मिला है।

वर्तमान राजनीति भी मनुष्य को किसी न किसी राजनीतिक दल का सदस्य बनने के लिए बाध्य करती है। अपनी मान्यताओं के अनुसार राजनीतिक आकांक्षाओं के अनुकूल किसी न किसी संगठन का साथ देना ही पड़ता है। बहुमत की मान्यता है और व्यक्ति का महत्व लुप्तप्राय है। सर्वश्रेष्ठ विचारक भी अधिक लोगों की राय मानने को बाध्य हैं। इन परिस्थितियों ने व्यक्ति को संगठनों पर आश्रित कर दिया है। प्रत्येक क्षेत्र में संघ और संगठन ही महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली हैं। उनसे अलग हटकर व्यक्ति एक निर्बल और निरीह प्राणी बन गया है।

इन संगठनों और संघों का स्वातंत्र्योत्तर काल में बड़े ही तीव्र ढंग

से विकास हुआ है। केवल आर्थिक और राजनीतिक संगठन ही सामने नहीं आये हैं, कला और संस्कृति से सम्बद्ध संस्थाएँ भी खूब उभरी हैं। चतुर व्यक्तियों ने अपने स्वार्थ के लिए भी संगठनों का निर्माण किया है और सामूहिक स्वर की छाया में अपना स्वार्थ सिद्ध किया है। स्वतंत्रता के पश्चात् समाज में फैलनेवाली स्वार्थपरता और लोभ लिप्सा ने संघों और संगठनों को भी व्यक्तिगत स्वार्थ और लाभ का साधन बना दिया है। मजदूर-संगठन नेताओं के व्यक्तिगत लाभ के साधन बन गये हैं तथा कला और संस्कृति के नाम पर स्थापित संस्थाएँ भीतरी दलबन्दियों और कुचक्रों का शिकार हो रही हैं।

इन संगठनों का निर्माण व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिये हुआ था और अन्याय तथा शोषण से बचने के लिए ही मनुष्य ने इन्हें स्वीकार किया था। धीरे-धीरे ये संगठन अब इतने प्रबल हो गये हैं और व्यक्ति उन पर इतना आश्रित हो गया है कि उसकी निजता खो गयी है। इन संगठनों का नेतृत्व अब त्यागी और सेवक नहीं रह गया है। सत्ता से सौँठ-गाँठ कर अपने स्वार्थ की पूर्णता उसका उद्देश्य है और प्रत्येक संगठन किसी न किसी व्यक्ति के स्वार्थ का साधन बन गया है। संगठनों और संघों के पीछे इस स्वार्थ की मनोवृत्ति को स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कवि ने अच्छी तरह पहचाना है। व्यक्ति व्यक्ति न रहकर इन नेताओं के द्वारा नियन्त्रित भेड़ बन गया है। वह अपने बारे में सोचना भी छोड़ चुका है। संगठनों और नेताओं के प्रभाव ने उसे संवेदनशील, स्वतंत्र मानव नहीं रहने दिया है। नेता के संकेत और निर्देश पर आचरण करने के लिए वह बाध्य है और उसका अपना व्यक्तित्व बेमानी हो गया है।

### धार्मिक संघर्ष

अब्दुल बिस्मिल्लाह का अभिमत है कि गाँव के रहने वाले अभी भी अंधविश्वासों से बँधे, स्वर्ग और नरक के भय से भयभीत, आर्थिक लूट के शिकार, पण्डे-पुरोहितों से पाखण्ड से पीड़ित हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य में गाँवों की इन स्थितियों के अनेक चित्र हैं। किसान इसलिये दीन नहीं है क्योंकि वह दुर्बल और आलसी है। उसकी दरावस्था एक सुदीर्घ परम्परावाली धार्मिक और आर्थिक नीतियों का परिणाम है।

स्वातंत्र्योत्तर काव्य के अनुशीलन से गाँवों में जगती उस चेतना का भी संकेत मिलता है जो धीरे-धीरे विद्रोह और विरोध का रूप ले रही है।

स्वातंत्र्योत्तर समाज का जीवन शानदार जिन्दगी और कुत्ते की जिन्दगी के बीच दब-सा गया है। समाजवाद का नारा खोखला और हाथी के दाँत जैसा हो गया है।

धर्म और ईश्वर के प्रति अडिग आस्था की जगह तर्क और औचित्य चिंतन ने ले लिया है। ईश्वर के नाम पर अन्याय और अत्याचार का मौन रहकर स्वीकार करना इस समाज को मान्य नहीं। 'ईश्वर' निर्बल पड़ता जा रहा है।

“झीनी-झीनी बीनी चदरिया” में धार्मिक संघर्ष के दूसरे रूप का परिचय प्राप्त होता है। दुर्गापूजा के अवसर पर मदनपुरा में हुए संघर्ष का चित्रण लेखक इस प्रकार करते हैं— “यहाँ मदनपुरा में दो गलियाँ ऐसी हैं जिनको लेकर बड़ा विवाद है। एक गली ऐसी है जिसमें मुसलमानों की आबादी बहुत ज्यादा है और हिन्दू चाहते हैं कि दुर्गा की प्रतिमा इसी गली से होकर गुजरे। मुसलमान नहीं चाहते कि ऐसा हो, वरना उनका ईमान शायद खतरे में पड़ जायेगा। दूसरी गली ऐसी है जहाँ हिन्दू आबादी ज्यादा है और उस गली में मुसलमानों ने एक इमाम चौक बना रखा है। वे वहाँ ताजिया बिठाते हैं और हिन्दू नहीं चाहते कि ऐसा हो, वरना उनकी आस्था पर शायद चोट पहुँचेगी।”<sup>9</sup>

दुर्गापूजा, दशहरा तथा मुहरम आदि धार्मिक आयोजनों के कारण हिन्दू-मुसलमानों में संघर्ष होते हैं। इन धार्मिक उत्सवों के कारण दंगे भड़क उठते हैं और सामान्य जनता इन दंगों का शिकार बन जाती है। धर्म के विदारक रूप को प्रस्तुत करते हुए डॉ. शशिकला राय लिखती हैं— “धर्म और रीतिरिवाज इन गरीबों के जीवन में क्षणिक सकून लेकर नहीं बल्कि कई रातों की नींद हराम करने आते हैं।”<sup>10</sup>

अक्सर त्यौहार और उत्सवों का आयोजन दुख को भूल जानेके लिए किया जाता है। लेकिन त्यौहार तथा उत्सव क्षणिक सुख की अपेक्षा दुख छोड़ चले जाते हैं। मुहरम और दशहरे के समय दंगों के कारण सैकड़ों जाने चली गयीं। अधिक समय तक कर्फ्यू जारी रहा, जिससे वहाँ की जनता का जीवन ध्वस्त हो गया। भीष्म साहनी कहते हैं— “कोई ऐसा धर्माचार नहीं है जो इन्सान को इन्सान के साथ जोड़े-सभी इन्सान को इन्सान से अलग करते हैं, एक-दूसरे के दुश्मन बनाते हैं।”<sup>11</sup>

डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त के मतानुसार “हमारा अतीत काल धार्मिक दृष्टि से गौरवमय रहा है।”<sup>12</sup> किन्तु वर्तमान समय में धर्म के गौरवमयी रूप में परिवर्तन आया हुआ दृष्टिगोचर होता है। दुर्गा भक्तों में आये परिवर्तन को उजागर करते हुए लेखक लिखते हैं— “बंगाली टोला में जगह-जगह दुर्गा की प्रतिमाएँ बन रही हैं। मिट्टी की खूबसूरत स्त्रियाँ। चतुर्भुजा असुरों का दमन करती हुई। लेकिन इन माटी की देवियों को यह भला कहाँ पता है कि इनके भक्तों में भी अनेक जन अब असुर-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये हैं।”<sup>13</sup> उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि इन असुरों रूपी भक्तों के कारण धर्म सड़कछाप बन जाता है।

### आर्थिक संघर्ष

किसी भी अर्थव्यवस्था का सम्बन्ध वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और मूल्य निर्धारण से होता है। किसी भी आवश्यक वस्तुओं का मूल्य निर्धारण उसे श्रम द्वारा निर्धारित किया जाता है। श्रमिक के किसी वस्तु के उत्पादन करने पर शोषक द्वारा उसका मूल्य बहुत कम दिया जाता है। इसलिए आर्थिक विषमता बढ़ती है। यह विषमता वर्ग-संघर्ष को जन्म देती है।

आज प्रत्येक मनुष्य अर्थ के लिए संघर्ष कर रहा है। वह आज के परिवर्तनशील के दौर को अपना रहा है। आज उसमें समाज में अभिव्याप्त शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने की क्षमता है। इस तरह प्रत्येक धर्म के आदमी को अपनी अर्थ-नीति को निर्धारित करने की स्वतंत्रता है।

आज के आधुनिक दौर में बहुत-सा संघर्ष अर्थ को लेकर ही हो रहा है। बहुतांश मुस्लिम समाज को भरपेट भोजन नहीं मिलता स्वतंत्रता के बाद भारत में आर्थिक विकास अवश्य हुआ है किन्तु इस आर्थिक विकास का लाभ मुस्लिम समाज के उन धनवानों को अधिक प्राप्त हुआ जो पहले से ही धनवान थे। अर्थात् यहाँ अमीर, अमीर होता गया और गरीब और गरीब होता गया। इस प्रकार अन्य समाज की भाँति आर्थिक असमानता आजादी के बाद भी मुस्लिम समाज में बढ़ गयी। अभी वर्तमान परिस्थिति में देखा जाय तो भारत देश में करोड़ों मुसलमान केवल दो समय के रोटी के लिए जूझते हुए नजर आते हैं। इस तरह बेकारी के कारण निम्न तथा मध्य वर्गीय मुसलमान आज अशांत हैं।

जीवन के हर क्षेत्र में व्यक्ति धन के पीछे अंधाधुंध दौड़ रहा है। अर्थ का व्यापक प्रभाव हर क्षेत्र में दिखाई देता है। इसके लिए मनुष्य ईमान, प्यार, धर्म, सब कुछ बेचता हुआ नजर आता है। वर्तमान अर्थव्यवस्था में समाज व्यवस्था के विभिन्न वर्गों के स्थान पर वर्गों का उदय हुआ है। वर्ग से अभिप्राय मानवों का वह समूह

जिनके आर्थिक हित समान हों। विचारकों ने जीवित रहने के लिए संघर्ष अस्तित्व की रक्षा के लिए सबल और निर्बल के बीच सतत चलता रहता है। अतः अंत में इसका परिणाम यह होता है कि सबल की विजय और निर्बल शोषित और यह शोषक-शोषितों के श्रम का उपभोग करते दिखाई देते हैं।

इस तरह की व्यवस्था में उच्च वर्ग निम्न वर्ग का शोषण करता है। धन के बल पर पूँजीपति वर्ग श्रमिकों पर मनमानी करता है और श्रमिक विवश होकर यह सब कुछ आँख मूँदकर सहता रहता है। इस विवशता का कारण अर्थाभाव है। यही बात जमींदार तथा किसान और जमीन में रात-दिन मेहनत करने वाले मजदूर में दिखाई देती है।

आर्थिक विषमता तो हर जाति-धर्म में हजारों वर्षों से दिखाई देती है किन्तु आर्थिक विषमता के प्रति विद्रोह की चेतना आज की देन है। आज के गरीब व्यक्ति को गरीबी से प्यार करने तथा उस परिस्थिति में सिमटे रहने की चाह नहीं है। बल्कि उसमें गरीबी के विरुद्ध संघर्ष करने का उत्साह है। आज वह शोषितों एवं पीड़ितों का संगठित वर्ग बनाकर वर्गीय स्तर पर लड़ने के लिए तैयार है। वह सभी संगठित लोगों के सहारे लड़कर वह अपना हक माँग रहा है। अगर वह माँगकर नहीं देते हैं तो शोषित उसे छीनकर लेना पसंद कर रहे हैं। इस तरह के सभी आर्थिक अभाव के कारण ही समाज में विषमता दिखाई देती है।

'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में लाखों अंसारी बनारसी साड़ी बुनकरों की समस्या को उजागर किया है। इस उपन्यास में बुनकरों के परिपाटीबद्ध शोषण और दोहन से उपजी अमानवीय जीवन परिस्थितियों का सजीव चित्रण करने वाला एक प्रामाणिक दस्तावेज माना जाता है।

### निष्कर्ष

लेखक प्रस्तुत आयाम के माध्यम से सर्वहारा वर्ग तथा निम्नमध्यवर्गीयों में शोषण के खिलाफ संघर्ष करने के लिए एक प्रकार का साहस और धैर्य उत्पन्न करता है। लेखक का उद्देश्य यही है कि जिस प्रकार बुनकरों का शोषण हुआ वैसा और किसी का न हो और पहले से ही वे शोषण के प्रति सजग रहे।

आज की सामाजिक स्थिति में काफी विषमता तथा आर्थिक कठिनाइयों एवं असमानताओं का तनाव है। इसका प्रभाव मुस्लिम समाज पर भी अनिवार्य रूप से हुआ है। मुस्लिम समाज में भी उनके जीवन के कुछ-कुछ मानदण्ड आज परिवर्तित हो रहे हैं। कल की मान्यताएँ और परम्पराएँ आज युग के साथ चल सकने में अपने को असमर्थ पा रही हैं। मुस्लिम समाज में जो नयी पीढ़ी उभर रही है। उसके सामने यह परिवर्तनशीलता स्पष्ट है। मुस्लिम युवक रूढ़ियों और परम्पराओं के झूठे गौरव को यह नई पीढ़ी किसी भी मूल्य पर स्वीकार करने को तैयार नहीं है। यही नयी मुस्लिम पीढ़ी और पुरानी मुस्लिम पीढ़ी का संघर्ष है, जो काफी स्पष्ट हो चुका है और जिसके सम्बन्ध में अब किसी को भ्रम नहीं। तथाकथित, पराजित पीढ़ी के गीत गाए जाने का यह युग नहीं है। आज की गति यह संघर्ष की गति है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा साहित्य में चेतना का आयाम भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अब्दुल बिस्मिल्लाह का अभिमत है— आज कल राजनीतिक भावना केवल शहरों में ही नहीं अपितु गाँवों में भी दिनों-दिन जागृत होती जा रही है। स्वतंत्रता के पूर्व लोगों के मन में स्वराज की भावना भरी थी। नागार्जुन के बलचनमा उपन्यास का नायक स्वयं बलचनमा कहता है— "सोराज होने पर क्या होगा? यह बात मैंने पटना में महेन बाबू से पूछी थी। उन्होंने क्या जवाब दिया था भैया क्या बताऊँ? महेन बाबू ने यही कहा था सोराज होने पर

सबके दिन लौटेंगे, सबका भाग्य धमकेगा।"<sup>14</sup>

धर्म के प्रति विश्वास की धारणा अति प्राचीन है। धर्म में प्रचलित नियम समाज के शाश्वत की तरह है। इसलिए सामाजिक प्राणी मनोमस्तिष्क से अपने धर्म में प्रचलित मान्यताओं, त्यौहारों के पूर्ण करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। त्यौहार मनाने की प्रथा मानव समाज में अज्ञात काल से चली आ रही है। व्यक्ति को जीवन में त्यौहारों के द्वारा प्रेरणा प्राप्त होती है।

आज वर्तमान युग में मनुष्य खुद से लड़ रहा है। वह आज अपना अस्तित्व बनाने के लिए दिन-रात संघर्ष कर रहा है। 'मुखड़ा क्या देखे' इस उपन्यास में अली चुड़िहार का लड़का बुद्धू अपनी पत्नी भूरी को शहर लेकर जाता है और वहाँ डाक्टरी करता है। वह अपनी जिंदगी में आधुनिक परिवर्तन लाने का प्रयास करता है। जिस माता-पिता ने उसे बचपन से पाला-पोसा था। उनके प्रति इसके मन में कतई चिंता नहीं है। घर में बिटिया कुंवारी बैठी है। लेकिन उसके बारे में बुद्धू को कुछ लेना-देना नहीं है। तब बुद्धू की माँ रनिया ने दुःख और क्रोध से भी आवाज में कहनी शुरू किया, "जिंदगी भर भौंकी ढो-ढोके, गतड़ा धो-धोके, खुद पानी पीके अऊर तुम पंचन को खाना खिला के जऊन अमाँ ने पाला-पोसा अब चरुधेपन में भी का उहै सब कुछ करे? आखिर बेटवा-बिटिया कऊने दिने के वास्ते होते हैं।"<sup>15</sup> इस तरह रनिया अपने दुःख को सभी के सम्मुख रखा मगर बुद्धू ने उसका विरोध किया और तब रनिया ने उसे टोकते हुए कहाँ हाँ-हाँ, हम समझती हैं सब। तुन्हें अपनी कमाई का गुमान है अऊर कुछ नहीं। मुलाँ बेटवा, अपनी खानदानी पेशे को भूल जाना भलमनइन का काम नहीं है। इस तरह माँ रनिया का बार-बार समझाने के पश्चात भी बेटे जॉ. रफी अहमद सिद्दीकी पर कोई असर नहीं पड़ा। इस तरह मनुष्य अपने व्यक्तिगत विकास के लिए वह घर के लोगों की बातों को टालता है और वह अपना रास्ता शहर की ओर पकड़ता है। वह घुघापुर आकर रहता है। आर्थिक विषमता के कारण भी जीवन के आदर्श मूल्यों में परिवर्तन परिलक्षित होता है। जिसके परिणामस्वरूप परिवार टूटते नजर आते हैं।

स्वतंत्रता से पूर्व ही साम्प्रदायिक लोगों का यह कार्य रहा है कि हिन्दू-मुस्लिम की एकता को रोका जाए और हिन्दू-मुस्लिम समाज में दंगे कराकर आजादी के लड़ाई में रुकावटें पैदा की जाए। इसलिए आजादी के बाद उसका काम है साम्राज्यवादी असर को प्रभावपूर्ण बनाना, जनविरोध, काला बाजारियों, पूँजीपतियों आदि को प्रोत्साहन देना।

इसी तरह यह भी स्पष्ट है कि हिन्दू मुसलमानों में एक-दूसरे के प्रति टकराहट के बावजूद भी दो संस्कृति का आदान-प्रदान आदि के कारण हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों एक-दूसरे के निकट आ गयीं। लोक-गीत, त्यौहार, दीपावली, एक-दूसरे के सुख-दुख को दोनों ने स्वीकार किया। इस तरह दोनों संस्कृतियों ने आपस में भेदभाव का व्यवहार भी नहीं किया।

### सन्दर्भ

1. धर्म और समाज, पृष्ठ 17, डॉ. राधाकृष्णन.
2. टुवर्ड्स न्यू होराइजन, प्यारेलाल.
3. जवाहरलाल के भाषण.
4. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी-साहित्य का इतिहास, डॉ. लक्ष्मीसागर वाष्णीय.
5. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी-साहित्य का इतिहास, डॉ. लक्ष्मीसागर वाष्णीय.
6. द स्टेट इन एनशियेंट इण्डिया, डॉ. महादेव प्रसाद द्वारा उद्धृत.
7. महात्मा गांधी का समाज-दर्शन में उद्धृत, डॉ. महादेव प्रसाद.

8. महात्मा गांधी का समाज-दर्शन में उद्धृत, डॉ. महादेव प्रसाद.
9. झीनी झीनी बीनी चदरिया, पृष्ठ 161, अब्दुल बिस्मिल्लाह.
10. 'अक्षरा' त्रैमासिक, अक्टूबर-दिसम्बर, 2000, पृष्ठ 88, सं. गोविंद मिश्र.
11. कबीरा खड़ा बाजार में, पृष्ठ 72, भीष्म साहनी.
12. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में ग्राम-चेतना, पृष्ठ 188, ज्ञानचंद गुप्त.
13. झीनी झीनी बीनी चदरिया, पृष्ठ 160-161, अब्दुल बिस्मिल्लाह.
14. बलचनमा, पृष्ठ 81, नागार्जुन.
15. मुखड़ा क्या देखे, पृष्ठ 224, अब्दुल बिस्मिल्लाह.